रोज़गार-2

खेतिहर मज़दूर और महिलाएं

चित्र : विनय

— यों द्रेज़

लोगों को रोज़गार के बेहतर अवसर मुहैया करवा पाना किसी भी देश की अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख पहलू होता है। पिछले अंक में इस लेख के पहले भाग 'रोज़गार' में हमने रोज़गार और बेरोज़गारी के अलग-अलग पहलुओं पर चर्चा की थी। साथ ही शिक्षा और मानव संसाधन, रोज़गार और सामाजिक स्थिति आदि के बीच के संबंधों को टटोला था। प्रस्तुत है इस लेख की अगली कड़ी।

खेतिहर-मज़दूरी

भारतीय समाज के सबसे गरीब लोग खेतिहर-मज़दूर ही हैं। गरीबी घटाने के काम का एक मूलभूत हिस्सा इन लोगों के रोज़गार-अवसरों में सुधार लाना है। खेतिहर-मज़दूरों की आजीविका इस बात पर तो निर्भर करती ही है कि साल में उन्हें कितने दिन काम मिलता है; साथ ही यह मज़दूरी की दर पर भी निर्भर करती है। फिर, काम और पारिश्रमिक मांग और आपूर्ति के अर्थशास्त्रीय नियम पर निर्भर करते हैं। यानी करने को काम (मांग) कितना है और उसके लिए लोग कितने उपलब्ध (आपूर्ति) हैं। बहुत सारी ज़मीन और सिंचाई-सुविधाओं वाले एक गांव में किसानी काम की गुंजाइश भी ज़्यादा रहेगी।

लेकिन अगर वहां खेतिहर मज़दूरों की तादाद कम है (क्योंकि वहां बहुत थोड़े लोग भूमिहीन हैं) तो निश्चित ही वहां प्रति खेतिहर मज़दूर, खेतिहर काम के दिन कहीं ज़्यादा होंगे। यानी मज़दूरों को न केवल साल के अधिकांश दिन काम मिलेगा, बल्कि उन्हें मिलने वाली मज़दूरी भी अपेक्षाकृत ज़्यादा होगी। इसके ठीक विपरीत, अगर किसी गांव के अधिकांश लोग काम की तलाश में हैं और काम भी कम है, तो वहां के लोगों को मिलने वाले रोज़गार के अवसर भी कमतर होंगे और मज़दूरी की दर भी कमतर होगी। पंजाब जैसे राज्यों में, खेतिहर काम की मांग काफी ज़्यादा होने के कारण, पहले वाली स्थिति का पाया जाना काफी आम है, जबकि दूसरी वाली स्थिति बिहार जैसे राज्यों की है, क्योंकि वहां की अधिकांश आबादी भूमिहीन है। नतीजतन पंजाब जैसे राज्यों में रोज़गार के हालात खुशगवार होने के कारण खेती से जुड़े काम के चरम पर बहुत से मज़दूर बिहार से पंजाब की ओर कूच करते हैं।

इन्हीं कारणों से किसी स्थान-विशेष में रोज़गार व पारिश्रमिक का स्तर साल भर बदलता रहता है। खेतिहर काम की मांग व आपूर्ति अपने चरम पर होती है तो पैसे तो ज़्यादा मिलते ही हैं, ऐसे दिन भी कम आते हैं जबकि काम ही न मिले। लेकिन सुस्त मौसम में जब करने को थोड़ा-सा ही काम हो तो मेहनताना भी कम मिलता है और काम मिलना भी दुश्वार हो जाता है।

मांग-आपूर्ति के इस सिलसिले द्वारा निर्धारित होने वाली मज़दूरी की दरें भी काफी कम होती हैं – इतनी कम कि भूमिहीन मज़दूर अपना पेट भी ठीक से नहीं पाल पाते और उनके पास कमाई के अन्य मौके भी नहीं होते। उदाहरण के लिए विभिन्न राज्यों में खेतिहर मज़दूर अपनी मौजूदा रोज़ाना आमदनी से तकरीबन 3 से 5 किलो अनाज खरीद पाते हैं (पंजाब, हरियाणा जैसे राज्यों में आमदनी इससे

थोड़ी ज़्यादा है और बिहार-उड़ीसा जैसे राज्यों में इससे थोड़ी कम है)। अब एक कृषि-मज़दूर के आम हालात पर गौर करें, जिसे पांच जनों के अपने परिवार का पेट भरना है। यह मज़दूर साल के आधे दिन काम पाता है और इस काम के बदले उसे (काम के प्रति दिन) 4 किलो अनाज के बराबर पैसा मिलता है। इसका मतलब यह हुआ कि असल में वह परिवार औसतन 2 किलो खाद्यान्न रोज़ कमाता है– क्योंकि अगर काम मिला तो 4 किलो अनाज और अगर नहीं मिला तो कुछ भी आमदनी नहीं। यानी 0.4 किलो ग्राम अनाज प्रति दिन प्रति सदस्य उपलब्ध हो पाता है । यह तो न्यूनतम कैलोरी ज़रूरतें पूरी करने के हिसाब से भी नाकाफी है; कपड़ों, दवाइयों वगैरह की तो बात ही छोड़िए। ऐसे में अगर इस परिवार में दो कमाऊ सदस्य हों तो भी इसकी न्यूनतम कैलोरी ज़रूरतें बहुत मुश्किल से ही पूरी हो पाएंगी।

मज़दूरों को बेहतर मज़दूरी मिले, इसके लिए भारत सरकार ने सारे राज्यों में न्यूनतम मज़दूरी कानून लागू किया है। इससे कम मज़दूरी पर मज़दूरों को रखना गैरकानूनी है। संगठित औद्योगिक क्षेत्र में तो अमूमन यह कानून अमल में आ जाता है क्योंकि वहां इसे लागू करवाने के लिए एक दुरुस्त तंत्र है। यदि मालिक न्यूनतम मज़दूरी नहीं देता तो ट्रेड यूनियन हड़ताल कर सकती है, कोर्ट द्वारा इस कानून का अमल करवा सकती है। लेकिन चूंकि खेतिहर मज़दूर आमतौर पर संगठित नहीं होते इसलिए उनके मामले में यह मसला थोड़ा पेचीदा हो जाता है। लेबर इन्स्पेक्टर भी कृषि के क्षेत्र में न्यूनतम मज़दूरी कानून पर अमल करवाने में बहुत कम दिलचस्पी लेते हैं। इसलिए यदि कोई किसान अपने यहां काम करने वाले मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी से कम पारिश्रमिक देता है तो उसके विरुद्ध कोई शिकायत दर्ज किए जाने की गुंजाइश काफी कम होगी। नतीजतन ज़्यादातर राज्यों में खेती के संदर्भ में तो न्यूनतम मज़दूरी कानून अप्रभावी ही साबित हुआ है।

लेकिन कुछ अपवाद भी हैं। केरल में खेती के दायरे में भी न्यूनतम मज़दूरी कानून सफल रहा है। क्योंकि वहां ज़मीन से जुड़ी राजनैतिक मोर्चेबंदी (Political Activism) की एक पुरानी परम्परा रही है। इसमें खेतिहर मज़दूरों

की ट्रेड यूनियनों का बनना भी शामिल है। ये यूनियनें संगठित औद्योगिक क्षेत्र की तरह, कृषि के क्षेत्र में भी न्यूनतम वेतन की मांग उठाती रही हैं। इसी तरह से पश्चिम बंगाल के कुछ हिस्सों में भी खेतिहर मज़दूरों ने संगठित होकर अपनी यूनियन बना पाने में सफलता हासिल की है। इससे इतना तो साफ है कि मज़दूरों को न्यायसंगत पारिश्रमिक दिलवाने के लिए केवल न्यूनतम मज़दूरी कानून पारित करना ही काफी न होगा। इस संदर्भ में यह भी ज़रूरी होगा कि उनके राजनैतिक संगठन बनें ताकि वे अपने जायज़ हकों की सुरक्षा खुद करने में सक्षम हों। लेकिन ज़्यादातर राज्यों में यह काम होना अभी बाकी है।

कृषि-मज़दूरी को ऊंचा उठाने का एक और विकल्प है – लोक निर्माण कार्यक्रमों के ज़रिए मज़दूरों के लिए वैकल्पिक रोज़गार के अवसर मुहैया कराना। यह दो तरह से उपयोगी है। एक तो यह काम मज़दूरों के लिए रोज़गार का एकदम प्रत्यक्ष तरीका है। दूसरे जन-रोज़गार कार्यक्रमों से स्थानीय कृषि-मज़दूरी की दरें बढ़ने की गुंजाइश बनती है। क्योंकि, मांग की तुलना में खेतिहर श्रम की आपूर्ति घटाने में ये कार्यक्रम सहायक होते हैं। इसी तरह सें अगर श्रमिकों को गैर-कृषि रोज़गार के बेहतर अवसर हासिल हों (मसलन अगर सरकार उन्हें उत्पादक-संसाधन खरीदने के लिए रियायती ऋण दे) तो वे दुहरे तरीके से लाभान्वित होंगे – प्रत्यक्षतः आमदनी के इस नए स्रोत के ज़रिए और अप्रत्यक्षतः बढ़े हुए कृषि-पारिश्रमिक के ज़रिए। खेतिहर श्रमिकों के लिए वैकल्पिक रोज़गार के अवसरों के निर्माण के लिए भारत सरकार ने बहुत से कार्यक्रम शुरू किए हैं जैसे कि जवाहर रोज़गार योजना। लेकिन रोज़गार की कुल ज़रूरतों के मुकाबले ऐसे कार्यक्रम काफी कम ही होते हैं।

महिलाओं का रोज़गार

काम व पारिश्रमिक संबंधी अब तक कही गई सारी बातें सामान्यतः औरतों के रोज़गार पर भी लागू होती हैं। इसके अलावा विशेष तौर पर महिलाओं को रोज़गार व उनकी कमाई

को प्रोत्साहन देने के कुछ ठोस कारण भी हैं।

एक तो यह है कि महिला श्रमिक अमूमन आबादी के सबसे गरीब तबकों से आती हैं। क्योंकि ग्रामीण भारत में आमतौर पर जब तक घर-परिवार को पैसे की अत्यधिक ज़रूरत न हो, महिलाएं पैसे कमाने के लिए काम तलाशने घर के बाहर नहीं जातीं। इसलिए महिलाओं के रोज़गार अवसरों को प्रोत्साहन देने का अर्थ होगा निर्धनतम परिवारों की आजीविका को सम्बल देना। *दूसरा* कारण यह है कि महिला व पुरुष अपनी-अपनी कमाई का उपयोग अलग-अलग ढंग से करते हैं। आमतौर पर महिलाएं अपनी कमाई बुनियादी चीज़ों पर खर्च करती हैं जैसे कि बच्चों की शिक्षा और पोषण पर। कुछेक घरों में तो पुरुष अपनी पत्नी से उम्मीद रखता है कि वो घर का खर्चा चलाए जबकि वह अपनी कमाई बीड़ी, पान, चाय और अपनी व्यक्तिगत ज़रूरतों पर खर्च कर देता है। इसका मतलब यह है कि महिलाओं की कमाई, पुरुषों की कमाई के मुकाबले पर ज़्यादा लगाई जाती है।

और तीसरा कारण है महिलाओं की स्थिति – जब महिला के पास अपनी आय के साधन होते हैं तो पुरुष पर उसकी निर्भरता कम होती है; इससे घर के अंदर महिला व पुरुष के बीच असमानता घटती है। बहुत-से घरों में महिलाओं के पास आय के स्वतंत्र माध्यम उपलब्ध नहीं होते; हालांकि वे अपने घरों व खेतों में तमाम ऐसे काम करती हैं जिन्हें आर्थिक गणनाओं में शामिल नहीं

किया जाता। इसलिए आर्थिक स्वतंत्रता हासिल न होने की स्थिति में घरेलू निर्णयों व सीमित आय के प्रबन्धन में महिलाओं की राय न के बराबर ही ली जाती है। जब महिलाएं व पुरुष समान रूप से कमाऊ रोज़गार में होते हैं तो घर के दीगर मामलों में भी उन दोनों की समानता प्रतिबिम्बित होने लगती है। एक ऐसी महिला का उदाहरण लीजिए जो अपनी बेटियों के लिए भी शिक्षा उपलब्ध कराना चाहती है, लेकिन उसका पति उसकी इस चाहत के प्रति निरपेक्ष भाव अपनाकर सिर्फ बेटों की शिक्षा में दिलचस्पी रखता है। अब अगर इस महिला को आय का एक स्वतंत्र साधन उपलब्ध हो जाए तो उसके लिए अपनी बेटियों को शिक्षा उपलब्ध कराना आसान हो जाएगा। लेकिन अगर केवल पति ही इकलौता कमाऊ प्राणी है तो यह मुद्दा उपेक्षित ही रह जाएगा।

लेकिन महिलाओं के रोज़गार के अवसर बढ़ाने के विरोध में भी दलीलें दी जाती हैं। एक बात तो यही कही जाती है कि इससे महिलाओं के ऊपर काम का बोझ और बढ़ेगा। घरेलू काम और बाहरी सवैतनिक काम, दोनों मिल कर उसके ऊपर 'दोहरा बोझ' डालेंगे। इसके अलावा महिला को अपने बच्चों पर ध्यान देने के लिए ज़रूरी समय भी कम मिलेगा। घरेलू काम में लगने वाले समय में कमी लाने वाले उपायों से उसकी यह परेशानी कम की जा सकती है (मसलन सिलबट्टों की जगह बिजली या ऊर्जा से चलने वाली चक्कियों के इस्तेमाल के द्वारा)। इस समस्या का इससे भी बेहतर व समुचित समाधान यह है कि पुरुष भी घरेलू

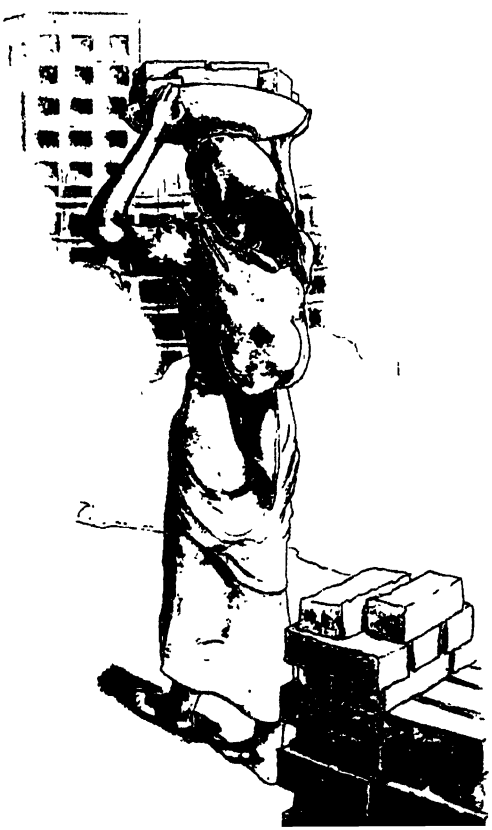

काम-काज में हाथ बटाएं। बहुत से देशों में महिलाओं के लिए यह संभव हुआ है कि वे घरेलू व बाहरी काम के दोहरे बोझ से दबे बिना बाहरी काम में शामिल हो पाई हैं। लेकिन भारत में जैसी स्थिति है, उसमें महिलाओं के लिए घर से बाहर सवैतनिक काम कर पाने के अवसर ज़रा कम ही हैं।

कुछ निष्कर्ष

इस लेख में अब तक जो भी कहा गया है उसके आधार पर हम कुछेक ऐसे प्रयासों की ओर इशारा कर सकते हैं जो लोगों के रोज़गार के अवसर बढ़ाने में मददगार साबित होंगे।

पहली बात तो यह कि उत्पादक संसाधनों के न्यायसंगत वितरण से बहुत सारे लोगों के लिए स्व-रोज़गार के ज़रिए अपनी आय बढ़ाना संभव होगा। खासतौर पर ज़मीन का बेहतर वितरण तो इस संदर्भ में और भी प्रभावी होगा। बेज़मीन परिवारों के मुकाबले एक ऐसे परिवार के पास अपने हुनर व श्रम का बेहतर इस्तेमाल करने के अवसर ज़्यादा होंगे, जिसके पास, चाहे थोड़ी ही सही पर ज़मीन तो है।

दूसरी बात यह कि मानव संसाधनों में सुधार के ज़रिए भी रोज़गार के अवसरों को बढ़ाया जा सकता है। एक ऐसे समाज में जहां मानव पूंजी या संसाधन (यानी सिद्धहस्त व शिक्षित

लोग) काफी मात्रा में हों, और जहां इस संसाधन का वितरण भी काफी फैलाव लिए हुए हो तो वहां रोज़गार के अवसर भी आज के भारत की बनिस्बत काफी व्यापक होंगे।*

इस संदर्भ में पूर्वी एशियाई देशों

(जैसे दक्षिण कोरिया) के अनुभव काबिले गौर हैं। इन देशों ने अपने विकास के शुरुआती दौर में जन-शिक्षा के पहलू पर खासा ध्यान दिया। नतीजतन भारत के मुकाबले इन देशों में शिक्षा का स्तर काफी ऊंचा है। के लिए एक औसत दक्षिण युवक को नौ साल से भी ज़्यादा की स्कूली शिक्षा हासिल हुई है जबकि उसी के बराबर का एक औसत भारतीय वयस्क पुरुष केवल ढाई बरस की स्कूली शिक्षा से गुज़रा है। साथ ही दक्षिण कोरिया की केवल पांच फीसदी वयस्क महिला आबादी निरक्षर है, जबकि भारत के संदर्भ में यह आंकड़ा 61 फीसदी ठहरता है। मानव-संसाधन में इस शुरुआती निवेश की वजह से ही दक्षिण कोरिया के अधिकांश लोग अपेक्षाकृत बेहतर पारिश्रमिक वाला काम पाने के काबिल बने हैं।

तीसरी बात यह कि ट्रेड यूनियन जैसे संगठनों की मदद से खेतिहर मज़दूर न्यूनतम मज़दूरी पाने में सफल हो सकते हैं। केरल व पश्चिम बंगाल के उदाहरण इस संभावना की ओर इशारा करते हैं। इसके अलावा अपना रोज़गार कर रहे व्यक्तियों द्वारा संगठन बनाकर अपने लिए कामकाज की बेहतर शर्तें व माहौल पाने में कामयाबी के कुछ दिलचस्प उदाहरण भी हैं। जैसे, स्व-रोज़गार के ज़रिए अपना काम कर रही अहमदाबाद की महिलाओं की एक सफल ट्रेड यूनियन है 'सेवा'। ये महिलाएं फेरी लगाने व घरेलू दस्तकारी जैसे कामों में लगी हुई हैं। इनकी ट्रेड यूनियन इन्हें कई मामलों में मदद पहुंचाती है -- ऋण सुविधा उपलब्ध करवाकर, उनके उत्पादों को बाज़ार में बेचने की व्यवस्था करवाकर, झूलाघर उपलब्ध करवाकर इत्यादि। इसी तरह से कुछ इलाकों में तेंदू पत्ता इकट्ठा करने वाले और बीड़ी बनाने वाले मज़दूरों ने भी अपने संगठन बनाए हैं और अपने उत्पादों का बेहतर मूल्य पाने में सफलता हासिल की है।

चौथी बात यह कि जन-रोज़गार कार्यक्रम कुछ खास इलाकों (जैसे सूखे इलाकों) में, साल के कुछ खास दिनों में (जब मौसम बहुत सुस्त हो) श्रम की मांग बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं। यह सिर्फ उन्हीं के लिए फायदेमंद नहीं जो सीधे-सीधे इन कार्यक्रमों से अपनी रोज़ी-रोटी पाते हैं बल्कि यह सामान्यतः सभी श्रमिकों के लिए

* लेकिन यहां यह बात ध्यान में रखनी पडेगी कि जरूरी नही कि शिक्षा हमेशा बेरोजगारी में कमी लाए। ऐसा इसलिए कि रोजगार के अवसरो को बढाने के साथ-साथ शिक्षा आमतौर पर शिक्षितो की उम्मीदो मे भी इजाफा लाती है। हो सकता है कि एक स्नातक को अपनी अहर्ताओ के समकक्ष काम न मिले और साथ ही वह कुशल मज़दूरी करना भी पसद न करे (क्योंकि उसकी नजर म मजदूरी करना अपमानजनक है)। नतीजतन ऐसा व्यक्ति बेरोजगार बनकर रह जाता है और उसके मुकाबिले कम शिक्षित व्यक्ति वही मजदूरी वाले काम पा लेते है।

उपयोगी है क्योंकि श्रम की ज़्यादा मांग स्थानीय खेतिहर मेहनताने का स्तर ऊंचा उठाती है।

पांचवां बिंदु है महिलाओं के रोज़गार अवसर बढ़ाने पर खास ध्यान देना। यदि घर के नज़दीक ही छोटे बच्चों के लिए स्कूल-पूर्व सुविधाएं हासिल हो जाएं तो इन महिलाओं के लिए कमाऊ रोज़गार में शामिल होना आसान हो जाएगा। इन सुविधाओं के उपलब्ध हो जाने से उन पर घरेलू व बाहरी कामकाज का दोहरा बोझ भी नहीं पड़ेगा।

इसके अलावा श्रम-बाज़ार में महिलाओं व पुरुषों के बीच के भेद को मिटाना भी एक महत्वपूर्ण कदम होगा। अक्सर एक ही तरह के काम के लिए भी महिलाओं को पुरुषों के मुकाबले कम मज़दूरी दी जाती है, जिससे उन्हें नुकसान होता है। इसके अलावा उन सामाजिक पूर्वाग्रहों को चुनौती देने की ज़रूरत भी है जो महिलाओं को घरेलू कामकाज तक सीमित रखते हैं और उन्हें अपने कौशलों को बाहर के क्षेत्र में आज़माने का मौका नहीं मुहैया कराते।

अन्तिम बात, यदि अर्थव्यवस्था में विकास की दर ऊंची हो तो पूर्ण रोज़गार की स्थिति तक पहुंचना कमोबेश आसान होता है। अगर आर्थिक विकास का पैटर्न ऐसा हो कि उसकी धारा में ज़्यादा से ज़्यादा लोग भाग ले सकें तो यह दलील और भी मौजूं हो जाती है।

मसलन आर्थिक विकास अगर श्रम प्रधान उत्पादन तकनीकों पर टिका हो तो इससे रोज़गार निर्माण का परिमाण भी काफी ज़्यादा होगा। लेकिन अगर यही आर्थिक विकास एक ऐसी व्यवस्था पर टिका हो जिसमें पूंजी-सघन तकनीकों की बहुतायत हो (यानी ऐसी परिष्कृत मशीनरी जिसमें मानव श्रम की भागीदारी कम से कमतर हो) तो यह विकास चंद उद्यमियों व बेहद कुशल कर्मचारियों के लिए ही बहुत से लाभ का निर्माण करेगा, न कि तमाम आबादी के लिए ज़रूरी रोज़गार का निर्माण। वहीं, भागीदारी-पूर्ण आर्थिक विकास का ढांचा अख्तियार करने के लिए शिक्षा संबंधी अवसरों के न्यायसंगत वितरण व उनके अधिकतम फैलाव की अहमियत भी बहुत बढ़ जाती है।

यों द्रेज़: दिल्ली स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स में 'डेवलपमेंट इकॉनोमिक्स' के विज़िटिंग प्रोफेसर। पूर्व में 'लंदन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स' में इसी विषय के व्याख्याता रह चुके हैं।

मूल लेख अंग्रेज़ी में; **अनुवाद: मनोहर नोतानी** – अनुवाद के काम में स्वतंत्र रूप से सक्रिय, भोपाल में रहते हैं।